9

बच्चे का विकासात्मक संदर्भ और विद्यालय

ऋषभ कुमार मिश्र*

यह लेख समकालीन संदर्भों में बच्चों और विद्यालयों के संबंधों की पड़ताल करता है। यह लेख स्कूली जीवन के शुरुआती वर्षों में बच्चे की दुनिया में हो रहे बदलावों का विश्लेषण करता है। इस लेख में परिवार एवं अन्य महत्वपूर्ण भागीदारों के विद्यालयी अनुभव और अपेक्षाओं की भूमिका पर प्रकाश डाला गया है। तदोपरांत लेख में चर्चा की गयी है कि कैसे विद्यालय की गतिविधियाँ खेल और काम में फ़र्क पैदा करती हैं? और इसके क्या परिणाम होते हैं?

स्कूल की संस्थागत मौजूदगी बच्चे के रोज़मर्रा की ज़िंदगी में क्या बदलाव लाती है? अकसर इस सवाल को सुलझाने की चर्चा को बच्चे के स्कूल में प्रवेश के बाद आरंभ करते हैं। इस कहानी के सूत्र को थोड़ा पहले से पकड़ने की ज़रूरत है। आजकल स्कूल में प्रवेश लेने से पहले ही बच्चे स्कूल से परिचित हो चुके होते हैं । स्कूल से इनका परिचय अभिभावक सहित अन्य वयस्क दो तरीकों से कराते हैं। पहला, वे स्कूल में प्रवेश के पूर्व ही साक्षरता-अक्षर ज्ञान और गणित का अभ्यास कराने लगते हैं। दूसरा, वे स्कूलों के प्रतीकों, जैसे — बैग, ड्रेस, टिफ़िन आदि से बच्चे के मन में स्कूल की छवि उकेरने लगते हैं। जैसे ही बच्चे हाव-भाव या शब्दों के सहारे संवाद आरंभ करते हैं वैसे ही अभिभावक अक्षर और गिनती के उच्चारण और इसे दोहराने के द्वारा पढ़ाई-लिखाई से परिचित कराने लगते हैं। इसके अलावा अभिभावकों का ज़ोर होता है कि उनके बच्चे रोज़मर्रा के उपयोग की वस्तुओं का अंग्रेज़ी शब्द-ज्ञान कर लें। एक या दो वर्ष के छोटे बच्चे के साथ इन अभ्यासों बच्चे की शैक्षिक सफलता के लिए अभिभावकों का *होमवर्क* मान सकते हैं। यह *होमवर्क* इस मान्यता से संचालित है कि सीखने की सामग्री साक्षरता है और इसे ज़्यादा मात्रा में सीखने के लिए, सीखने का समय अधिक होना चाहिए (क्लार्क, 2001)। सीखी सामग्री को दोहराने की आवृत्ति अधिक होनी चाहिए (कुमार, 2016)। सीखने की प्रतियोगिता में आगे रहने के लिए अतिरिक्त तैयारी करना अभिभावक की ज़िम्मेदारी है। क्या हमने कभी सोचा है कि साक्षरता के इन माध्यमों के अलावा प्रकृति और परिवेश में बहुत कुछ है जिसके प्रति बच्चे को संवेदनशील किया जा सकता है? मसलन फूलों के अलग-अलग प्रकार, चिड़िया की आवाजें, घर और आस-पास के कीट

* *सहायक प्रोफ़ेसर*,शिक्षा विभाग,महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा 442 001

पतंगों की पहचान। ऐसा करके बच्चे को कुदरत के निकट ले जाया जा सकता था। उसे परिवेश की संज्ञाओं के ज्ञान के बदले उनकी विशेषताओं को पहचानने और महसूस करने का अवसर दिया जा सकता था। साक्षरता से जोड़ने का उतावलापन बच्चे की दुनिया को सीमित कर देता है। इस सीमित दुनिया में अभिभावक बच्चों के परिवेश में स्कूल से जुड़े प्रतीकों को स्थापित कर देते हैं।

ऐसे ही कुछ प्रतीक, स्कूल का बैग, लंच बॉक्स, ड्राइंग बुक, कलर, ड्रेस आदि हैं। इन प्रतीकों द्वारा स्कूल की छवि कैसे बनती है? इसे स्कूल के बस्ते के उदाहरण से समझते हैं। बच्चे को अपने दूसरे या तीसरे जन्मदिन तक किसी न किसी के द्वारा उपहार में एक बस्ता मिल जाता है। यदि इस बस्ते को बच्चे को बिना किसी निर्देश के दे दिया जाए तो वह इसका तरह-तरह का उपयोग करेगा। एक अवलोकन में मैंने पाया है कि बच्चे के लिए बस्ता अन्य खिलौने की तरह था। उसे वह सिर पर उठाता तो कभी छाते की तरह प्रयोग करता। इस दौरान बच्चे के अभिभावक उसे बस्ते के 'सही' उपयोग का उदाहरण देते। उसमें बच्चे की अक्षर ज्ञान की पुस्तक रखकर बताते हैं कि यह कॉपी-किताब रखने वाला झोला है। कुछ दिनों बाद पाया कि वही बच्चा, जिसने अभी-अभी चलना ही सीखा है, बस्ता लेकर स्कूल जाने की नकल उतारने लगता है। अभिभावक इसे शुभ संकेत मानते हैं और निष्कर्ष निकालते हैं कि उनके बच्चे में पढ़ाई को लेकर सकारात्मक अभिवृत्ति है। ऐसे ही टिफ़िन और पानी की बोतल जैसे प्रतीकों को स्कूल जाने से जोड़ दिया जाता है। इसके अन्य प्रयोगों और अर्थों को गौण करते हुए 'लंच' में टिफ़िन करने के अर्थ को स्थापित किया जाता है। यहाँ भोजन करने के खास समय को चिह्नित करके खान-पान के तरीके और इस तरीके को स्कूली व्यवस्था के रूप में स्थापित किया जाता है। पानी की बोतल और लंच बॉक्स लेकर बच्चे घूमने या पार्क भी जा सकते हैं, लेकिन हमारा शिक्षित मन इन प्रतीकों को स्कूल की आवाजाही और वहाँ की गतिविधि के अर्थ में इनके प्रयोग को देखना और दिखाना चाहता है। ऐसे ही बच्चा अपने परिवार और पड़ोस के अन्य बड़े बच्चों को स्कूल आते-जाते देखता है। स्वभावतः वह कई बार इनके साथ 'पढ़ाई' के काम में शामिल होना चाहता है। उसे इन बड़े बच्चों की पढ़ाई के समान से दूरी बनाए रखने की हिदायत दी जाती है। जब उत्सुकतावश वह कोई हस्तक्षेप करना चाहता है तो उसके व्यवहार को 'परेशान' करने या *डिस्टर्ब* करने की संज्ञा दी जाती है। इस तरह से बच्चा स्कूलों के कामों की महत्ता और विशिष्टता को इस अर्थ में समझने लगता है कि ये काम 'बड़ों' के हैं, बच्चों के नहीं। इन व्यवहारों और अभ्यासों से बच्चे के मन में यह विश्वास पुख़्ता होने लगता है कि स्कूल, घर से अलग कोई इकाई है जिसके अपने तौर-तरीके और नियम हैं (कुमार, 2016)।

आखिरकार बच्चे के जीवन में वह समय आ जाता है जब उसे भी स्कूल जाना होता है। एक-दो दिन बच्चा स्कूल के अपरिचित माहौल में जूझता है। अंततः वह स्कूल को अपनाने लगता है। स्कूल आने-जाने के क्रम में उसके मन में पहली छाप स्कूल के इमारत की पड़ती है। बच्चे के लिए यह इमारत

ऐसा घेरा होती है जो घर के ही जैसी दूसरी दुनिया होती है जहा उसकी बातें सुनने वाले, उसकी रूचि और ज़रूरतों का ध्यान रखने वाले होते हैं। उसे इस बात का बोध कराने के लिए हर विद्यालय की 'नर्सरी' में झूले, खेल का सामान, उसका ध्यान रखने वाली मैम आदि की व्यवस्था होती है। इस इमारत के भीतर बच्चे की एक नई दुनिया होती है। स्कूल के शुरुआती वर्षों में इस दुनिया में नकारात्मकता के लिए न्यूनतम स्थान होता है। यह दुनिया उसे सुरक्षा, प्रेम और आनंद प्रदान करने में लगी होती है। यहाँ बच्चा अपनी दुनिया का विस्तार करता है। माता-पिता या भाई-बहन, दादा-दादी जैसे रिश्तों के अलावा टीचर और दोस्त बनते हैं। टीचर जहाँ सुरक्षा और देखभाल जैसे नैतिक विकास के साथ संज्ञानात्मक विकास का दायित्व उठाते हैं वहीं दोस्त, सेल्फ़ और अन्य के अंतर का बोध कराते हैं (चौधरी, 2004)। यह बोध उसके परिचय में प्रकट होता है। उसके परिचय में विद्यालय और कक्षा जैसे घटक आ जाते हैं। वह कक्षा, सेक्शन या हाउस आदि की सदस्यता अपनी विशिष्टता को पहचानता है। कुल मिलाकर बच्चे के लिए स्कूल की दुनिया चमत्कृत करने वाली होती है। शुरुआती वर्षों में बच्चा जब स्कूल से वापस आता है तो वह स्कूल की घटनाओं और अनुभवों को साझा करने को उतावला रहता है। स्कूल में दोस्तों से हुयी बात और किए गए कामों की चर्चा करता है। कई बार वह घर पर शिक्षक का रोल निभाते हुए परिवार के अन्य सदस्यों को पढ़ाने का खेल खेलता है। उसके लिए शिक्षक या शिक्षिका ऐसे वयस्क हो जाते हैं जिनके द्वारा दी गयी सूचनाएँ ही ज्ञान होती हैं। जिनके निर्देश का वह पूरे विश्वास और उत्साह के साथ पालन करता है। शुरुआती वर्षों में बच्चे और शिक्षक का यह रिश्ता ज्ञान की सत्ता और इसके परिणामस्वरूप ज्ञानवान या ज्ञानहीन होने की धारणाओं से मुक्त होता है। इस दौरान आपसी संबंधों में प्रेम करना, एक-दूसरे का ध्यान रखना, बच्चे की बातों को ध्यान पूर्वक सुनना जैसे पक्ष शिक्षक और बच्चे के संबंध को निर्धारित करते हैं (कोरसरो, 2005)।

महानगरों के संदर्भ के देखा जाए तो स्कूल बच्चे को एक बहुसांस्कृतिक समूह का सदस्य बनता है। नगरों के स्कूल के बारे में ये बातें हर आर्थिक एवं सामाजिक समूह के लिए सत्य हैं। स्कूल में बच्चा सामाजिक विविधता का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करता है। देश के अलग-अलग क्षेत्रों, संस्कृतियों, भाषा-भाषियों से उसका परिचय होता है। ऐसे ही प्रतिदिन स्कूल आने जाने के दौरान वह वह शहर के स्वरूप, लोग और गतिविधियों का अवलोकन करता है। अलग-अलग स्कूलों के नाम, दोस्तों के स्टॉप, विज्ञापन, परिवहन के साधन आदि से परिचित होता है। कई बार हर रोज़ की यह बस यात्रा थका देने वाली होती है। कुल मिलाकर आजकल स्कूल उसी भूमिका में हैं जैसे कोई 'ऑफ़िस'। स्कूल की रीति-नीति की अन्य औपचारिक संस्थानों जैसे 'ऑफ़िस' बढ़ती नज़दीकी इसमें कृत्रिमता पैदा करती है और इसे बच्चे को 'बड़ा' बनाने का कारखाना बना देती है।

स्कूल को अपनाने के साथ बच्चे की दिनचर्या में समय के सापेक्ष गतिविधियों का नियोजन शुरू हो जाता है। बच्चे की दिनचर्या की सबसे बड़ी विशेषता समय के कठोर विभाजन का अभाव होती है। उसके

लिए दिन के विभिन्न क्रियाकलापों में एक क्रम और व्यवस्था होती है, लेकिन उसे इस व्यवस्था से छेड-छाड़ करने की आज़ादी मिली होती है। बचपन की यह आज़ादी बड़े और बच्चे के बीच की एक बड़ी विभाजक रेखा है। कई बार इसी लक्षण के आधार पर बचपन को एक अलग अवस्था के रूप में पहचाना जाता है। स्कूल आने-जाने का चक्र शुरू होते ही यह आज़ादी, समय के पालन की बाध्यता बन जाती है। बच्चे को निर्धारित समय पर उठना, तैयार होना, विद्यालय जाना, विद्यालय से आना, खेलना, कार्यों को पूरा करना आदि सीखना पड़ता है। उसे यह बोध हो जाता है कि घर और स्कूल में अलग-अलग कार्यों को करने का समय अलग-अलग और निर्धारित होता है। यह प्रशिक्षण, अनुशासन के लिए बीज का कार्य करता है। अनुशासन का यह बीज अच्छे या बुरे होने की शर्त बन जाता है। तभी तो शुरुआती वर्षों में *गुड मैनर* और *बैड मैनर* का जबर्दस्त प्रशिक्षण दिया जाता है। पता नहीं बच्चा *गुड* और *बैड* के अर्थ को कितना ग्रहण करता है, लेकिन वह यह जान जाता है कि अंततः *गुड* बनने में ही भलाई है।

शुरुआती वर्षों में स्कूल का अनुभव काम और खेल में भेद करना सीखा देता है। जैसाकि पहले बताया गया कि बच्चे को सिखाया जाता है कि रोज़मर्रा के कार्यों के लिए समय का बँटवारा कार्यों के महत्व के सापेक्ष होना चाहिए। यह सीख सर्वप्रथम खेल को एक गैर उत्पादक गतिविधि सिद्ध कर देती है, क्योंकि न तो खेल *क्लासवर्क* का हिस्सा होता है और न ही *होमवर्क* का। वह तो बस मनोरंजन मात्र है। खेल के बदले स्कूल के कामों को प्राथमिकता देने को 'अच्छे' बच्चे के साथ जोड़ दिया जाता है। समझ में नहीं आता हम लोग खेल के प्रति ऐसी दृष्टि क्यों रखते हैं? यदि बच्चों के खेल का अवलोकन करें तो आप पाएँगे कि उनके खेल में समस्या समाधान, जोड़-तोड़ और सूझ आदि को देखा जा सकता है। फर्क इतना होता है कि इस खेल के नियंता बच्चे स्वयं होते हैं। खेल के दौरान बच्चा खिलौनों का आविष्कार करता है। आसपास की वस्तुओं को खेल में महत्वपूर्ण सहायक सामग्री के रूप में इस्तेमाल करता है। कई बार इन खेलों में वह घर और समुदाय की घटनाओं की नकल उतारने की कोशिश करता है। वह दोस्तों के साथ नियम बनाता है। उनके परिप्रेक्ष्य को स्वीकारता है। अपनी जिज्ञासाओं को साझा करता है। अपने समूह में न केवल समस्याओं को पहचानता है, बल्कि उनके समाधान भी खोजता है। बच्चों के ये खेल-समूह समावेशी होते हैं। इसमें हर नये बच्चे का स्वागत होता है। उसकी मदद की जाती है। स्कूल काम की जिस अवधारणा को बच्चे को सीखता है वह अकसर वयस्कों के द्वारा परिभाषित कार्य होता है जिसके करने के ढंग के प्रति उसे सजग रहना होता है। इन कार्यों में उसके प्रदर्शन, उसके मूल्यांकन का पैमाना होता है। उसके प्रदर्शन को *स्टार* और *गुड* जैसे विशेषणों से नवाज़ा जाता है। बच्चों के संज्ञानात्मक विकास के जिन सिद्धांतों को शिक्षण का आधार माना जाता है वे भी सीखने में बाह्य नियंत्रण का समर्थन नहीं करते हैं। न ही ये सिद्धांत स्कूल के द्वारा संज्ञानात्मक विकास में किसी तीव्र बदलाव की पैरवी करते हैं। इन्हीं आधारों पर बाल केंद्रित शिक्षा के लिए 'खेल' को शिक्षा का माध्यम बनाने की बात की जाती है। इस सुझाव के विपरीत स्कूल उन नियमों

और तौर-तरीकों को स्थापित कर रहे हैं जहाँ खेल, स्कूल के काम के बराबर महत्वपूर्ण नहीं है। इसके पीछे खेल को असंरचित और लक्ष्यहीन मानने की धारणा है। यह धारणा एक सामाजिक उत्पाद है जिसमें यह विश्वास है कि मानसिक श्रम, शारीरिक श्रम से श्रेष्ठ है और यह डर है कि खेल को अधिक महत्व देने से बच्चा *व्हाइट कॉलर जॉब* के रास्ते पर बढ़ने से भटक जाएगा। बाल केंद्रित शिक्षा की दृष्टि से देखें तो स्थानीय और उपलब्ध संसाधनों के आधार पर सीखने की स्वाभाविकता को बनाए रखने की बात की जाती है। लेकिन प्ले स्कूल या नर्सरी कक्षाओं में खेल की सदृश स्थितियों में सीखाने में इन तत्वों का अभाव होता है।

खेल की एक विशेषता होती है कि बच्चे उपलब्ध वस्तुओं को खिलौनों के रूप में इस्तेमाल करते हैं। आसपास के समान में कुछ जोड़-तोड़ कर उन्हें सिखाने का संसाधन बनाया जा सकता है। ऐसा करने के बदले स्कूल के शुरुआती दिनों में बच्चों को अत्याधुनिक तरीके से सजा हुआ *प्ले रूम* मिलता है। इस में कारखानों में बने खिलौनों की भरमार होती है। नि:संदेह ये बच्चों को आकर्षित करते हैं। इसके साथ ही प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से बच्चे को बाज़ार नाम की इकाई से परिचित करा देते हैं। बच्चा यह जानने लगता है कि ये खिलौने बाज़ार में मिलते हैं। बाज़ार से परिचय का क्रम जारी रहता है। अपने आसपास के प्री-स्कूल या नर्सरी के बच्चों को देखिए। कभी उन्हें खास किस्म की वेशभूषा धारण करना होता है या कभी कोई खास मॉडल या खिलौना आदि लेकर जाना होता है। कभी कोई पोस्टर तो कभी कोई रंग खरीदना होता है। इन ज़रूरतों के बहाने उसे स्टेशनरी की दुकान या ऐसे किसी बाज़ार तक जाना पड़ता है। ऐसे ही स्कूल आने-जाने के क्रम में चिप्स, चॉकेलट और फ्रूटी भी उसकी ज़रूरतों में शुमार हो जाती है। इन चीज़ों से वह पहले से परिचित होता है, लेकिन अब वह इनका अनुबंधन स्कूल आने-जाने से कर लेता है। यदि वह स्कूल न जाता तो भी एक न एक दिन बाज़ार से परिचित होता। लेकिन इस तरह की व्यवस्थाओं ने बच्चे को भी सक्रिय उपभोक्ता बना दिया है। उसमें एक तरह का भाव पैदा किया है कि ज़रूरत की हर चीज़ को खरीदा जा सकता है।

अब तक जिन अवलोकनों की चर्चा की गयी है वे महानगरों में बड़े हो रहे हर बच्चे के अनुभव का हिस्सा हैं। ये अनुभव उसे किस दिशा में ले जा रहे हैं? इसका आकलन पाठक स्वयं कर सकते हैं। मेरे मन में तो बस यही सवाल है कि स्कूल और इसकी व्यवस्थाएँ घर से कैसे और क्यों दूर होती जा रही हैं? क्या यह बड़े होने की मज़बूरी है? या बड़े करने की एक विधि है?

अंततः कह सकते हैं कि समकालीन संदर्भों में स्कूल जाना एक बच्चे के लिए एक विकासात्मक उपलब्धि के समान हो गया है जो बच्चे की पहचान पर अपनी अमिट छाप छोड़ रहा है। यह छाप उसे उत्पादक के रूप में तैयार करने के लक्ष्य से प्रेरित है जहाँ श्रम के बदले सामाजिक प्रतिष्ठा महत्वपूर्ण है।

संदर्भ

कुमार, के. 2016. 'स्टडिंग चाइल्डहुड इन इंडिया'. *इकोनॉमिक एंड पॉलिटीकल वीकली*, 51(23) https://www.epw.in/author/krishna-kumar पर देखा गया।

कोरसरो,डब्ल्यू. 2005. *द सोशियोलॉजी ऑफ़ चाइल्डहुड*. सेज पब्लिकेशंस,लंदन.

क्लार्क, पी. 2001. *टीचिंग एंड लर्निंग— द कल्चर ऑफ़ पैडागॉजी*. सेज, दिल्ली.

चौधरी,एन. 2004. *लिसनिंग टू कल्चर — कांस्ट्रक्टिंग रियल्टी फ्रॉम एवरीडे टाक*. थाउज़ेंड ओक्स, दिल्ली.